शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

मगसिर-पौष : २४८१ ❀ वर्ष दसवाँ ❀ अंक ८-९

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मुक्ति का पहला सोपान

अन्तर के चिदानन्दस्वभाव को पहिचानकर उसमें एकाग्रता से राग दूर करके जिन्होंने सर्वज्ञता प्रगट की; उन सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में ऐसा उपदेश आया कि—अरे आत्मा! तूने अपने मूल स्वभाव की ओर कभी उन्मुखता नहीं की; तेरा आत्मा एक समय में परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण है, उसे पहिचानकर उसकी प्रतीति कर। अंतरात्मा में एकाग्र होने से राग दूर हो जाता है और सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; इसलिये राग, वह तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है किन्तु पूर्ण ज्ञान, वह तेरा स्वरूप है।—इस प्रकार राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का निर्णय करना, वह मुक्ति के उपाय का पहला सोपान है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११६-१७]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

चैतन्य की साधना

अन्तर की चैतन्य-वस्तु अपूर्व सूक्ष्म है।

—यह ज्ञान के विकास या कषाय की मंदता से दृष्टि में नहीं आ सकती।

— मैं समझकर दूसरों को सुनाऊँ—ऐसी जिसकी भावना है, उसे आत्मार्थ का लक्ष नहीं है।

— यह तो उसकी समझ में आ सकता है जो आत्मार्थी होकर स्वयं अपना हित करना चाहता हो।

— ज्ञान का विकास अलग वस्तु है और अंतर्दृष्टि का परिणमन, वह कोई अलग वस्तु है।

— चैतन्य-वस्तु को किसी अन्य का सम्बन्ध है ही नहीं; तब फिर जो पर को समझाने की बुद्धि से समझना चाहता है, उसके अभी पर के सम्बन्ध की रुचि का जोर है; असंगी चैतन्यतत्त्व की सच्ची रुचि नहीं है।

— चैतन्य सत्ता का अस्तित्व पर के या पुण्य-पाप के कारण नहीं है, किन्तु पर के और राग के सम्बन्धरहित चैतन्यसत्ता स्वयं स्वभाव से ही है। ऐसी वर्तमान प्रवर्तित चैतन्यसत्ता को अंतर्दृष्टि में पकड़ना ही अनादि के मिथ्यात्व का नाश करके अपूर्व सम्यक्त्व होने की रीति है।

आत्मधर्म

मार्गशीर्ष-पौष : २४८१ वर्ष दसवाँ अंक ८-९

धर्मवर्द्धक दिव्यध्वनि और उसके यथार्थ श्रोता

[केवलज्ञान-कल्याणक-प्रसंग का प्रवचन]

भगवान को शुद्धनय के अवलम्बन के बल से केवलज्ञान होने पर भावमोक्ष हुआ... उनको कही हुई शुद्धनय के अवलम्बन की बात जो समझ ले, उसे वर्तमान में दृष्टि-अपेक्षा से मोक्ष हो गया है और अल्पकाल में भावमोक्ष हो जाएगा।—इसप्रकार भगवान की वाणी का यथार्थ श्रोता स्वयं भी अल्पकाल में भगवान हो गया है.....

[सोनगढ़ में मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय में श्री नेमिनाथ भगवान के केवलज्ञान-प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनिरूप पूज्य स्वामीजी का प्रवचन : वीर संवत् २४७९, चैत्र शुक्ला ९]

देखो, अभी यहाँ नेमिनाथ भगवान को केवलज्ञान हुआ।

किस प्रकार हुआ ?—अपने भूतार्थस्वभाव का संपूर्ण आश्रय लेने से केवलज्ञान हुआ। भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान-कल्याणक का महोत्सव मनाया और दिव्य समवशरण की रचना की; उस समवशरण में भगवान के सर्वांग से दिव्यध्वनि खिरी और सब श्रोताजन अपनी-अपनी भाषा में अपनी योग्यतानुसार समझे। भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया है कि—हे जीवो! आत्मा त्रिकाली केवलज्ञानशक्ति से परिपूर्ण है; प्रत्येक आत्मा एक समय में केवलज्ञान प्राप्त करने की शक्तिवाला है। उस शक्ति का विश्वास करके, उसमें अन्तर्मुखता से ही

सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान होता है। हमने इसी विधि से केवलज्ञान प्राप्त किया है और तुम्हें भी केवलज्ञान प्राप्त करने के लिये यही विधि है।

भगवान का उपदेश धर्मबुद्धि का ही निमित्त है। पूर्वकाल में साधकदशा में धर्मबुद्धि के विकल्प से वाणी के रजकण बँधे; वह धर्मवृद्धि के भाव से बँधी हुई वाणी दूसरे जीवों को भी धर्मवृद्धि का ही निमित्त है। आत्मा का पूर्णस्वभाव बतलाकर उसका आश्रय करना ही भगवान की वाणी बतलाती है। भगवान की वाणी में पराश्रयभावों का भी ज्ञान कराया है, परन्तु वे पराश्रयभाव छुड़ाने के लिये उनका ज्ञान कराया है। और ग्यारहवें गुणस्थान से जीव गिर जाता है और कोई जीव अनन्त संसार में भटकता है—ऐसा भगवान की वाणी में आया—उसमें भी परोन्मुख करने का आशय नहीं है परंतु धर्मबुद्धि का ही आशय है। जो जीव परोन्मुखता का आशय निकालते हैं, वे जीव वास्तव में भगवान की वाणी को नहीं समझे हैं। जगत में अनंत संसारी जीव हैं और अभव्य जीव भी हैं, परंतु वह बात अपने लिये नहीं है, वह तो जगत के ऐसे परजीवों का ज्ञान करने के लिये हैं। जिसे अनंत संसारीपने की या अभव्यपने की शंका है, वह जीव, भगवान की वाणी श्रवण करने के लिये अपात्र है। भगवान की वाणी में ऐसा आये कि—यह जीव सुपात्र है; यह जीव एक-दो भव में मोक्ष प्राप्त करनेवाला है, अमुक जीव तीर्थंकर होनेवाला है; अमुक जीव गणधर होनेवाला है—वहाँ सुपात्र जीव अपनी योग्यतानुसार समझ लेता है कि अमुक बात मेरे लिये है। जो जीव अपने में अभेददृष्टि और स्वाश्रयभाव प्रगट करके धर्म की वृद्धि करे, वही धर्म का सच्चा श्रोता है, उसी ने भगवान की वाणी को अपने में धर्मवृद्धि का निमित्त बनाया है। समयसार में आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने अपने में स्वाश्रय से धर्म प्रगट किया, उसी ने भगवान की वाणी सुनी है और जिसने अपने में अपूर्व धर्म प्रगट नहीं किया, उसने आत्मा की बात सुनी ही नहीं है। भगवान की वाणी के शब्द कानों में पड़ने पर भी उसने आत्मा की बात कभी सुनी ही नहीं है। देखो, यह निमित्त-नैमित्तिक की अपूर्व संधि।

पूर्वकाल में साधकदशा में जब भगवान को विकल्प था, तब धर्मवृद्धि का विकल्प था, धर्मवृद्धि के भाव से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ और केवलज्ञान होने पर दिव्यध्वनि खिरी; उस दिव्यध्वनि का उपदेश भी धर्मवृद्धि का ही कारण है। जो श्रोता अभेद आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर अपने में धर्म की वृद्धि करे, उसी को भगवान की वाणी धर्म का निमित्त है। वाणी में तो सब बात आती है, परन्तु जो श्रोता उसमें से धर्मवृद्धि का आशय नहीं निकालता, किन्तु व्यवहार के पक्ष

का आशय निकालता है, वह सच्चा श्रोता नहीं है; भगवान की वाणी को अपने धर्म का निमित्त बनाने की उसमें योग्यता नहीं है। उपादान में जितनी योग्यता हो, उतना आरोप वाणी में आता है। भगवान की दिव्यवाणी का यथार्थ श्रोता उसे कहते हैं कि जो जीव शुद्धनय के अवलम्बन का आशय समझकर अपने में धर्म की वृद्धि करे। अनंत संसार में भटकनेवाले जीवों की बात करके भगवान ने तो उस जाति के अन्य जीवों का ज्ञान कराया है, वह भी अपने लिये तो धर्म की वृद्धि का ही निमित्त है। उसके बदले जो जीव विपरीत आशय निकालकर ऐसी शंका करता है कि 'भगवान ने ग्यारहवें गुणस्थान से गिरकर संसार में भटकनेवाले जीव देखे हैं; अगर मैं भी संसार में भटका तो ?'—ऐसी शंका करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। और कोई ऐसा माने कि कर्म के जोर के कारण ही जीव ग्यारहवें गुणस्थान से गिरता है,—तो वह भी मिथ्यादृष्टि है; वह वास्तव में धर्मकथा नहीं किन्तु बंधकथा ही सुनता है। उसके संयोगदृष्टिवाले नैमित्तिकभाव में बंधभाव का ही पोषण है; इसलिये निमित्त में भी बंधकथा का आरोप करके कहा कि वह बंधकथा ही सुनता है।

निमित्त और नैमित्तिकभाव की संधिसहित जो श्रवण करे, उसी को आचार्यदेव धर्मश्रवणरूप से स्वीकार करते हैं। जो मात्र वाणी या राग के लक्ष से सुने, वह सच्चा श्रोता नहीं है, किन्तु वाणी और राग का लक्ष छोड़कर जो जीव, आत्मा के स्वभाव को लक्ष में ले, वही सच्चा श्रोता है। भगवान की वाणी धर्मवृद्धि का निमित्त है; इसलिये जिसने अपने में शुद्ध आत्मा का आश्रय करके धर्मवृद्धि का भाव प्रगट किया, उसी ने वास्तव में भगवान की वाणी सुनी है।—इसप्रकार जिसने भगवान की दिव्यध्वनि सुनी, उसे द्रव्यदृष्टि से, स्वसन्मुखता के बल से अल्पकाल में मुक्ति हो जाती है। भगवान ने स्वयं अपने परमार्थ स्वभाव के आश्रय से भावमुक्ति प्रगट की है और दिव्यध्वनि में भी परमार्थस्वभाव का आश्रय करने को कहा है। जिसने अपने में परमार्थस्वभाव की दृष्टि प्रगट की, वह भगवान का सच्चा श्रोता और भक्त हुआ; अब अल्पकाल में स्वभाव का पूर्ण आश्रय प्रगट करके वह भी भगवान जैसा मुक्त हो जायेगा। शुद्धनय के अवलम्बन के बल से केवलज्ञान होने पर भगवान को भावमोक्ष हुआ और उनकी कही हुई शुद्धनय के अवलम्बन की बात जो समझे, उसे वर्तमान में दृष्टि अपेक्षा से मोक्ष हुआ और अल्पकाल में भावमोक्ष हो जाएगा। इसप्रकार भगवान की वाणी का यथार्थ श्रोता स्वयं भी अल्पकाल में भगवान हो जाता है।

"जय हो उस धर्मवर्द्धक दिव्यध्वनि की और उसके यथार्थ श्रोता की....."

शुद्ध आत्मा का अनुभव

जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! शुद्ध आत्मा की अनुभूति कैसी होती है? पर्याय में विकार होने पर भी, आत्मा का शुद्धरूप अनुभव कैसे हो सकता है?

आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि—हे भाई! भूतार्थस्वभाव के निकट जाकर आत्मा का अनुभव करने से शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है; पर्याय में विकार होने पर भी, वह द्रव्यस्वभाव में प्रविष्ट नहीं हो गया है, इसलिये द्रव्यस्वभाव का अनुभव करने से आत्मा का शुद्धरूप से अनुभव होता है। ऐसा शुद्ध स्वभाव, पर्याय-पर्याय में प्रकाशमान है, कभी उसका अभाव नहीं है।

पर्याय में मति-श्रुतज्ञानादि प्रकार होने पर भी, भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर देखने से आत्मा नित्य एकरूप व्यवस्थित है। मतिज्ञान के छोटे से छोटे अंश से लेकर परिपूर्ण केवलज्ञान तक की समस्त पर्यायों में आत्मा का स्वभाव नित्य व्यवस्थित है; कम और अधिक ऐसे भेद उसमें नहीं हैं। मतिज्ञान के समय स्वभाव-सामर्थ्य कुछ कम हो गया हो और केवलज्ञान के समय बढ़ गया हो—ऐसा नहीं है; स्वभावसामर्थ्य तो सदैव ज्यों का त्यों अवस्थित है। ऐसे स्वभाव-सामर्थ्य को प्रतीति में लेकर उसका आश्रय करने से पर्याय में शुद्धता की वृद्धि अवश्य होती जाती है, किन्तु उस समय साधक की दृष्टि तो एकरूप व्यवस्थित स्वभाव पर ही पड़ी है; भेद और अशुद्धता उसकी दृष्टि में अभूतार्थ हैं। नित्य व्यवस्थित ऐसे भूतार्थस्वभाव की दृष्टि में हीनाधिकता के प्रकार दिखाई नहीं देते। ऐसे स्वभाव की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

जिस प्रकार सोना पीलेपन, भारीपन इत्यादि अनेक गुणों का पिण्ड है; उसमें "पीला वह सोना"—इस प्रकार पीलेपन को पृथक् करके लक्ष में लेने से संपूर्ण सोना ख्याल में नहीं आता; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा तो अनंतगुणों का पिण्ड एक समय में परिपूर्ण वस्तु है; उसे एक गुण से भेद करके लक्ष में लेने पर संपूर्ण वस्तु ज्ञान में नहीं आती, किन्तु विकल्प की उत्पत्ति होती है। व्यवहार से देखने पर, वस्तु में गुण-पर्याय के भेद हैं, वे भूतार्थ-विद्यमान हैं; किन्तु उन भेदों की सन्मुखता से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती—राग की उत्पत्ति होती है। धर्म की उत्पत्ति तो नित्य एक स्वरूप से अवस्थित ऐसे अभेद आत्मस्वभाव की सन्मुखता से ही होती है। उस अभेदवस्तु के अनुभव में गुण-पर्याय के भेद अभूतार्थ हैं। अभेद स्वभाव का अवलम्बन लिया, वहाँ भेद का अवलम्बन छूट गया; इसलिये वह भेद अभूतार्थ हैं; उसी प्रकार अन्तर्मुख होकर शुद्ध द्रव्य का अनुभव किया, वहाँ अशुद्धता अभूतार्थ है; द्रव्य के स्वभाव में अशुद्धता का प्रवेश नहीं है; इसलिये

द्रव्य के स्वभाव की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

वस्तु तो एक समय में समस्त गुणों का परिपूर्ण पिण्ड है; उसके सन्मुख होकर अनुभव करने से आत्मा के सम्यक् स्वभाव का अनुभव होता है। उसके बदले जो जीव, भेद के विकल्प से लाभ मानकर वहीं रुक जाता है, वह वस्तु स्वभाव से दूर है। गुण-भेद के विकल्प से अखण्ड वस्तुस्वभाव में नहीं पहुँचा जा सकता। भेद के अवलम्बन से राग की उत्पत्ति होती है, और राग से लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है। अशुद्धता या भेद के आश्रय से लाभ मानने से शुद्ध स्वभावरूप सम्पूर्ण वस्तु का अनादर होता है। जिसका आश्रय करने से सम्यक्दर्शनादि का लाभ होता है—ऐसे शुद्ध द्रव्य को तो अज्ञानी जीव जानता नहीं है और पर्याय की हीनाधिकता जितना ही अपने को अनुभव करता है, इसलिये पर्यायबुद्धि में उसे अशुद्धता ही भासित होती है—आत्मा का शुद्ध स्वभाव भासित नहीं होता। ऐसे जीवों को आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे जीव! क्षणिक रागादि पर्याय जितना ही तू नहीं है; तेरा भूतार्थस्वभाव नित्य परिपूर्ण सामर्थ्य का पिण्ड है; वह अशुद्ध नहीं हो गया है; इसलिये उस भूतार्थस्वभाव के सन्मुख होकर तू आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्रतीति कर। ऐसे अपने शुद्ध स्वभाव की निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव होने के पश्चात् भी धर्मात्मा को साधकदशा में गुणभेद का विचार आता है; पर्याय की हीनाधिकता के अनेक प्रकारों को जानता है किन्तु भेद के आश्रय से लाभ की बुद्धि उसके भी नहीं होती; शुद्ध द्रव्य की दृष्टि छूटकर किसी अन्य की मुख्यता उसे नहीं होती। इस प्रकार स्वभाव की दृष्टि रखकर गुण-भेद का जो विचार आता है, उसमें अस्थिरता का राग है; वह सिर्फ चारित्र का दोष है, किन्तु उसमें श्रद्धा का दोष किंचित् भी नहीं है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव की दृष्टि न करे और अकेले भेद के विचार में ही रुककर लाभ माने, उसके तो श्रद्धा का दोष है, उसने तो राग को ही वस्तु मान लिया है, इसलिये उसके मिथ्यात्व है। चैतनय के भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन ही एक कल्याण का मार्ग है। भूतार्थस्वभाव के अतिरिक्त गुणभेद के विचार से लाभ माने तो वह भी संसार का ही कारण (—मिथ्यात्व) है; तब फिर दूसरे स्थल के राग से या बाह्य में शरीरादि जड़ की क्रिया से जो लाभ मानता है, उसकी तो बात ही कहाँ रही? देखो; भेद का विकल्प आता है, वह कहीं मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु उस विकल्प के अवलम्बन से धर्म मानना, वह मिथ्यात्व है। धर्मी जीव गुण-भेद के विकल्प का कामी नहीं है; उसकी दृष्टि में तो शुद्ध अभेद स्वभाव एक ही भूतार्थ है, और भेद तथा अशुद्धता अभूतार्थ है। भूतार्थदृष्टि में उसे शुद्ध आत्मा सदैव समीप ही वर्तता है और विकल्प उसकी दृष्टि में से दूर हो गये

हैं। जो जीव अशुद्धता और भेद के विचार में ही अटका है और एकाकार ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख नहीं होता, उसे राग की समीपता है और शुद्ध आत्मा उससे दूर है। भेददृष्टि में भगवान आत्मा समीप नहीं है किन्तु दूर है, और अभेददृष्टि से देखो तो अंतर में चैतन्य भगवान सदैव समीप ही है। अभेद स्वभाव की निकटता में राग की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु शुद्धता की ही उत्पत्ति होती है और उसकी निकटता छोड़कर यदि भेद की या राग की मुख्यता हो तो वहाँ मिथ्यात्व होता है और शुद्ध आत्मा उसके दूर है। विकल्प के अवलम्बन द्वारा शुद्धात्मा के अनुभव तक नहीं पहुँचा जा सकता। भेद के आश्रय से स्वभाव में एकता नहीं होती किन्तु राग की उत्पत्ति होती है। चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर रागादि अशुद्धभाव अभूतार्थरूप हैं; इसलिये भूतार्थस्वभाव की दृष्टि करने से उन रागादि भावों से रहित ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति होती है।

शिष्य ने पूछा था कि पर्याय में विकार होने पर भी शुद्ध आत्मा का अनुभव किस प्रकार हो सकता है? उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव ने यह बात समझाई है। हे भाई! पर्याय में विकार देखकर तू अकुला मत, क्योंकि तेरा संपूर्ण स्वभाव विकाररूप नहीं हो गया है; उस स्वभाव की ओर उन्मुख होकर अनुभव करने से विकाररहित शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि करे, तभी से धर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसी शुद्ध स्वभाव की अपूर्व दृष्टि गृहस्थाश्रम में भी हो सकती है; अरे! आठ वर्ष की बालिका हो, सिंह हो, या मेंढ़क हो—वे भी अन्तर्मुख होकर ऐसी दृष्टि प्रगट कर सकते हैं। ऐसी दृष्टि प्रगट करके शुद्ध आत्मा का अनुभव किये बिना किसी जीव को धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

उमराला नगरी में मंगल-प्रवचन

[विहारकाल में पूज्य गुरुदेव का यह पहला प्रवचन है। माघ कृष्णा तृतीया के दिन सोनगढ़ से विहार करके पूज्य गुरुदेव उमराला पधारे और वहाँ ''श्री कहानगुरु जन्मधाम'' का तथा 'उजमबा जैन स्वाध्याय-गृह'' कर उद्घाटन हुआ। उस दिन का यह प्रवचन है। ग्राम्य जन्ता भी चैतन्यतत्व की बात को कुछ समझ सके—इस रीति से पूज्य गुरुदेव ने अपनी विशिष्ट एवं सरल शैली से इस प्रवचन में समझाया है।]

आज इस उमराला में तत्वज्ञानतरंगिणी की वचनिका प्रारम्भ होती है। आज विहार का प्रथम दिन है इसलिये इस नये शास्त्र का प्रारम्भ होता है। इसमें सबसे पहले श्लोक में मंगलचरणरूप से शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नमस्कार करते हैं—

प्रणम्य शुद्धचिद्रूपं सानंदं जगदुत्तमं।
तल्लक्षणादिकं वच्मि तदर्थि तस्य लब्धये॥१॥

यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है, सो आनन्दसहित है, और जगत में उत्तम है; ऐसे आत्मा को ही यहाँ नमस्कार किया है। शास्त्रकार कहते हैं कि मैं आत्मा का अर्थी हूँ, इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये मैं उसे नमस्कार करता हूँ।

जिसप्रकार बड़ी नदी में पानी की तरंगें उठती हैं, उसीप्रकार आत्मा में तत्वज्ञान की तरंगें उठें—ऐसी यह बात है। जहाँ पानी भरा हो, वहाँ तरंगें उठती हैं; उसीप्रकार आत्मा में ज्ञान और आनन्द भरे हैं, उसमें एकाग्र होने से ज्ञान-आनन्द की तरंगें उठती हैं।

इस देह मन्दिर में रहनेवाला आत्मा क्या वस्तु है—वह जीवों ने अनंतकाल में कभी नहीं जाना। आत्मा अनादि-अनंत वस्तु है; न तो वह नया हुआ है और न उसका कभी नाश होता है। आत्मा को किसी ईश्वर ने बनाया नहीं है; माता के पेट में आया, उस समय वह नया नहीं हुआ है; किन्तु अनादि से देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप है। जीव ने अनादि काल में ऐसे चैतन्यतत्व की समझ एक क्षण भी नहीं की। अनादिकाल से कहाँ रहा? अपने चैतन्यस्वरूप से च्युत होकर ''देह है, सो मैं हूँ''—ऐसी मान्यता से संसार की चार गतियों में भव धारण करके भटका है। देह में रहनेवाला आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप भगवान है; सर्वज्ञ होने का सामर्थ्य उसी में है। जीव ने मंदकषाय से

त्याग-वैराग्य आदि के शुभभाव अनन्तबार किये और उसी में धर्म माना, किन्तु अंतर में चैतन्यतत्व की ऋद्धि-समृद्धि कैसे है, वह बात कभी नहीं समझा; इसलिये उसे धर्म नहीं हुआ।

जीव को धर्म कैस होता है ? उसकी यह बात है। शुभ-अशुभभाव अलग वस्तु है और धर्म उससे अलग वस्तु है।

चैतन्यतत्व को चूककर जीव, शुभाशुभपरिणाम से चारगति में अनादि से भटक रहा है। तीव्र हिंसा, माँस भक्षण आदि के पापभाव करके जीव अनंतबार नर्क में गया; दया, दानादि के पुण्यभाव करके स्वर्ग में भी अनन्तबार गया और मनुष्य तथा तिर्यंच के भी अनन्त अवतार किये, किन्तु देह से भिन्न और पुण्य-पाप से भी पृथक् ऐसा ज्ञानतत्व क्या है, वह कभी नहीं जाना। ज्ञानतत्व को जाने बिना भव-भ्रमण से कभी छुटकारा नहीं होता।

इस देह मन्दिर में विद्यमान आत्मा चिदानंदतत्व है; जगत में वही उत्तम है;—ऐसे चैतन्यतत्व की बात जीव ने पूर्व अनन्तकाल में वास्तव में नहीं सुनी। ''नहीं सुनी''—ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि बात कानों में तो पड़ी, किन्तु उस समय अन्तर में उसकी रुचि करके स्वयं समझा नहीं, इसलिये वह श्रवण उसे निमित्त भी नहीं कहलाया। आत्मा को जाने बिना जीव, एक-एक क्षण में अरबों की कमाई करे—इतना बड़ा राजा अनन्तबार हुआ, और प्रतिदिन सैकड़ों गायों को काटनेवाला बड़ा कसाई भी अनन्तबार हुआ;—किन्तु यह कोई नई वस्तु नहीं है। अन्तर में चैतन्यस्वरूप आत्मा क्या है, उसकी समझ के बिना बाह्य में चाहे जितना करे, किन्तु वह कुछ भी जीव को शरणभूत नहीं है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ'—ऐसी सच्ची समझ ही जीव को शरणभूत है।

यह शरीर, जीव को शरणभूत नहीं है। शरीर तो एक क्षण में पृथक् हो जाता है। शरीर यहीं पड़ा रहता है, आत्मा अन्यत्र चला जाता है; तो शरीर से भिन्न चैतन्यतत्व कौन है, उसे पहिचानना चाहिए। देह तो संयोगी जड़ वस्तु है, उसका संयोग नया-नया होता है और आत्मा अनादिकालीन असंयोगी चैतन्यरूप है। देह मन्दिर में चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा पृथक् है। भिन्न-भिन्न अवतारों में देह धारण करना, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है; किन्तु पूर्वभव में अपराध किया; इसलिये अवतार हुआ है। पुण्य और पाप—दोनों अपराध हैं। पाप के फल में नरकादि की और पुण्य के फल में स्वर्गादि की प्राप्ति होती है; किन्तु वे दोनों अपराध हैं। जिनके फलस्वरूप आत्मा को संसार में भटकना पड़े, वे भाव अपराधस्वरूप है। आत्मा का चिदानंदस्वभाव अवताररहित है, उसकी पहिचान के बिना अवतार का अन्त नहीं आता।

देखो, जीव को सुखी होना है न! तो वह सुख कहाँ है? शरीर में—पैसे में—मकान में—प्रतिष्ठा में या पुण्य-पाप में कहीं भी चैतन्य का सुख नहीं है; सुख तो आत्मा का स्वभाव है। अज्ञानी जीव ने अपने स्वभाव को भूलकर पर में सुख की कल्पना की है; किन्तु पर में सुख नहीं है। शरीर में, पैसे में, स्वर्ग में या इन्द्रपद में सुख नहीं है; और जिस भाव से स्वर्ग की प्राप्ति हो, उस भाव में भी सुख नहीं है। संयोग और विकाररहित आत्मा के चैतन्यस्वभाव में ही सुख है। अहो! चैतन्यस्वभाव में ही मेरा सुख है—यह बात जीव को अनन्तकाल से नहीं जमी। कानों में तो अनन्त बार आई, किन्तु जमी नहीं; इसलिये बाह्य में सुख की कल्पना करके ढूँढ़ रहा है; किन्तु सुख तो अन्तर में है। जगत में आत्मा ही सर्वोत्तम वस्तु है; वह स्वयं आनंदस्वरूप है;—ऐसे आत्मा की पहिचान करना ही सुखी होने का मार्ग है।

आत्मा अनादिकालीन है; वही अभी तक कहाँ रहा?—भिन्न-भिन्न शुभाशुभभाव करके संसार की चार गतियों में भ्रमण करता रहा। चैतन्यस्वभाव क्या है, वह जीव अनादिकाल में एक क्षण भी नहीं समझा। प्रत्येक आत्मा देह मन्दिर में चैतन्य सामर्थ्य से भरपूर भगवान है; किन्तु उसे अपने सामर्थ्य की प्रतीति न होने से वह मानता है कि—"पुण्य-पाप किये उतना ही मैं हूँ।" यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि भाई! आत्मा कौन है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है—उसका मैं यहाँ वर्णन करूँगा। किसलिये?—क्योकि मैं आत्मा का अर्थी हूँ, इसलिये उस शुद्ध चिद्रूप आत्मा की प्राप्ति के लिये उसका कथन करता हूँ। जिन्हें अन्तर त्रास मालूम हुआ हो और आत्मा की गरज हुई हो—ऐसे जीवों के लिये यहाँ आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हैं। उसमें मंगलाचरण रूप से शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नमस्कार किया है। कैसा है आत्मा?—तो कहते हैं आनन्दसहित हैं; इसलिये उसकी पहिचान होने से स्वयं को भी आनन्द का अनुभव होता है और वह जगत में उत्तम है।

ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्मतत्व को जबतक जीव न जाने, तब तक उसके व्रत-तपादि—सब अरण्यरोदन के समान व्यर्थ हैं। जिस प्रकार इकाई रहित शून्यों का कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार सच्ची समझ के बिना चाहे जितना करे, तथापि वह शून्य समान है—उससे किंचित् भी धर्म नहीं होता। चैतन्य की पहिचान के बिना दूसरा सब तो अनन्तबार किया है, वह कुछ भी अपूर्व नहीं है। अहो! जिस चैतन्यस्वरूप को समझकर संतों ने उसे प्राप्त कर लिया, वैसा मेरा स्वरूप क्या है?—यह समझना अपूर्व है। अहो! इस जगत में आनन्द का धाम और उत्तम तत्व तो मेरा चैतन्य

भगवान है; मेरा आत्मा ही जगत में उत्तम और आनंदधाम है। चैतन्य का आनंद बाह्य में नहीं है और चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त जगत में दूसरा कोई उच्च नहीं है। पुण्य-पाप भावों में या विशाल महलों और पैसादि बाह्य पदार्थों में आनन्द नहीं है, तथा वे उत्तम नहीं हैं; वह सब तो अनन्तबार मिल चुका है। चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्राप्ति पूर्व अनन्त काल में कभी नहीं की। जगत में सर्वोत्कृष्ट उत्तम तत्व तो चैतन्यस्वरूप आत्मा है और आनन्दसहित है;—ऐसे शुद्ध चिद्रूप परमातमतत्व को उसकी प्राप्ति के हेतु यहाँ नमस्कार किया है। ●●

जिनशासन का सार

सर्व जिनशासन का सार क्या?—ज्ञानस्वरूप आत्मा, वह सर्व जिनशासन का सार है। आत्मा का स्वभाव क्या, विकार क्या, और पर क्या—इन तीनों को जानकर विकार और पर से भिन्न ऐसे शुद्ध आत्मस्वभाव में अन्तर्मुख होकर एकाग्र होना, वह जैनशासन है। जिसने शुद्ध आत्मा को जाना, उसने सर्व जिनशासन को जाना है; और जो अपने आत्मा को नहीं जानता, उसने जैनशासन को नहीं जाना है। जैनशासन कोई बाह्य वस्तु नहीं है, किन्तु शुद्ध आत्मा की अनुभूति ही जैनशासन है और वह आत्मा की वीतरागी निर्मल पर्याय है। जिनशासन के सर्व शास्त्रों का तात्पर्य यही है कि अपने शुद्ध आत्मा को जानकर उसमें एकाग्र होना। जो जीव, पर्याय को अन्तरोन्मुख करके वीतरागभाव प्रगट करे, वह स्वयं ही जिनशासन है, और सर्व शास्त्रों के सार को उसने जाना है, शास्त्र समुद्र में पड़ा हुआ परम चैतन्यरत्न उसने प्राप्त कर लिया है।

हे भव्य! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापन कर

अरे जीव! अभी तक तो तेरा काल बन्धमार्ग में बीता, किन्तु अब तू मोक्षमार्ग में स्थित हो! ''अरे रे! अभी तक मिथ्यात्व भावों को सेवन किया, तो अब मोक्षमार्ग कैसे होगा?'—इस तरह तू उलझन में मत पड़ना; क्योंकि अनादिकाल से अपनी विपरीत बुद्धि के कारण मिथ्याभावों का सेवन किया होने पर भी अपनी सुलटी बुद्धि के प्रयत्न से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करके आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित किया जा सकता है; इसलिये हे भव्य! अब तू अपने आत्मा को निश्चयरत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग में अति दृढ़रूप से स्थापित कर।

आत्मस्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाले निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग हैं। मोक्ष के इच्छुक पुरुष को ऐसा एक निश्चयरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग ही सदैव सेवन करनेयोग्य है। ऐसे मोक्षमार्ग का उपदेश देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य!

मोक्षपथे आत्मानं स्थापत तं चैव ध्यायस्व वं चेतयस्व।
तत्रेव विहर नित्यं, मा विहर्षीरन्य द्रव्येषु॥४१२॥

तू मोक्षमार्ग में अपने आत्मा की स्थापना कर, उसी का ध्यान कर, उसीकी चेत—अनुभव और उसी में निरंतर विहार कर; अन्य द्रव्यों में न विहर।

सामने श्रोतारूप से मोक्षार्थी जीव खड़ा है, उसे सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भव्य! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। यहाँ आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित करने को कहा, उसमें यह बात आ गई कि अभीतक आत्मा, मोक्षमार्ग में स्थित नहीं हुआ है किन्तु रागादि बंधभावों में ही स्थित है; और अब उन बंधभावों से छूटकर मोक्षमार्ग में स्थित होना, वह अपने स्वाधीन प्रयत्न से होता है। हे भव्य! तेरा आत्मा अनादि संसार से लेकर अपनी प्रज्ञा के दोष से परद्रव्य में—राग-द्वेषादि में निरंतर स्थित रहा है, तथापि अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही उसमें से विमुख करके उसे अति निश्चलरूप से निरंतर दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थापित कर।

अनादिकाल से अपनी बुद्धि के अपराध के कारण ही जीव, मिथ्यात्वादि बंधमार्ग में रुक गया है; कर्मों ने जीव को संसार परिभ्रमण कराया हो–ऐसा नहीं है। यदि कर्म ही जीव को संसार में भटकाते हों तो आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थित करने का उपदेश हो ही नहीं सकता। यदि कर्म ही जीव को परिभ्रमण कराते हों तो कर्मों को सम्बोधन करके ऐसा कहना चाहिये कि "अरे कर्म! अब तू आत्मा को छोड़!" लेकिन यहाँ तो जीव को सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भव्य! तू अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र में निश्चलरूप से स्थापित कर! अभीतक तूने ही अपनी विपरीत बुद्धि के कारण अपने आत्मा को बंधमार्ग में स्थापित कर रखा था, और अब तू ही अपनी बुद्धि को अन्तरोन्मुख करके अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित कर। तेरा मोक्षमार्ग तेरे ही हाथ में है। यदि अपने मोक्ष का प्रयत्न अपने ही हाथ में न हो—पर के हाथ में हो तो जीव को मोक्षमार्ग में स्थापित करने का उपदेश व्यर्थ जाये। अनादि संसार से—जब नित्य–निगोद था, तब भी जीव अपने विपरीतभाव के कारण ही वहाँ रहा था। इस प्रकार बंधमार्ग में जीव के अपराध की स्वतंत्रता बतलाकर, आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे जीव! अभी तक तो तेरा काल बंधमार्ग में व्यतीत हुआ, किन्तु अब तो तू मोक्षमार्ग में स्थित हो! "अरे रे! अभीतक मिथ्याभावों का सेवन किया तो अब मोक्षमार्ग कैसे हो सकेगा!"—इस प्रकार तू अकुलाना मत; क्योंकि अनादि से अपनी विपरीतबुद्धि के कारण मिथ्याभावों का सेवन किया है, तथापि अपनी सीधी बुद्धि के प्रयत्न से सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की आराधना करके आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित किया जा सकता है। इसलिये हे भव्य! अब तू अपने आत्मा को निश्चयरत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग में अतिदृढ़रूप से स्थापित कर।

देखो, ऐसे मोक्षमार्ग का उपदेश सुननेवाले श्रोता का कितना उत्तरदायित्त्व है?

राग से धर्म मनानेवाले कुदेव–कुगुरु की मानता हो; तो वह अपने आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित नहीं कर सकता। यहाँ प्रथम यथार्थ मोक्षमार्ग बतलानेवाले सच्चे देव–गुरु को ही वह मानता है।

दूसरे, जो जीव, निमित्त से लाभ–हानि मानता हो अथवा व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग को मोक्ष का कारण मानता हो, वह भी आत्मा को निश्चयरत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग में स्थापित करने का उद्यम नहीं कर सकता। जो जीव, मोक्षमार्ग का उद्यमी है, वह किसी भी पर के या राग के अवलम्बन से मोक्षमार्ग होना नहीं मानता।

कर्मों का उदय मुझे विकार करायेगा—ऐसी जिसकी दृष्टि हो, वह भी मोक्षमार्ग का उद्यम नहीं कर सकता। यहाँ तो जिसे बंधमार्ग में और मोक्षमार्ग में—दोनों में अपनी स्वतंत्रता भासित हुई है और अन्तर में अब मोक्षमार्ग की साधना का उत्साह जागृत हुआ है, ऐसे जीव से आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भव्य! निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप एक ही मोक्षमार्ग है, उसी में तू अपने आत्मा को निश्चलरूप से स्थापित कर। ''मुझसे मोक्षमार्ग नहीं हो सकता।''—ऐसी शंका श्रोता को भी नहीं होती।

जो जीव योग्य बनकर विनयपूर्वक श्रवण करने आया है और आत्महित के सिवा दूसरा कोई जिसका हेतु नहीं है; ऐसे भव्य जीव को आचार्यदेव, मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं कि हे जीव! तेरे आत्मा की निश्चयश्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, उसमें तू अपने आत्मा को स्थिर कर। ''चैतन्य स्वभाव ही मैं हूँ'' परन्तु ऐसा न समझकर, ''राग-द्वेष औार शरीर ही मैं हूँ''—ऐसा मानने से तो अज्ञानभाव से अभीतक निरन्तर विकार में ही एकाग्र हुआ; किन्तु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है—ऐसा समझकर हे भव्य! अब तू उससे विमुख हो... विमुख हो और निर्विकार चैतन्यमूर्ति स्वभाव के सन्मुख होकर उसमें स्थिरता कर—यही तेरे हित का मार्ग है।

हे जीव! न तो तुझे किसी दूसरे ने परिभ्रमण कराया है और न कोई दूसरा तुझे तारने वाला है; किन्तु तू अपनी प्रज्ञा के दोष के कारण ही संसार में भटका है और अब अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही संसार से विमुख होकर मोक्षमार्ग में स्थिर हो।

प्रज्ञा का दोष यानी क्या ?

चैतन्यस्वभाव की महत्ता स्वीकार करके उस ओर ज्ञान उन्मुख न होकर, राग ही मैं हूँ—ऐसा मानकर राग में ही वह ज्ञान एकाग्र हुआ, वह प्रज्ञा का दोष है; उसी के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता है।

प्रज्ञा का गुण यानी क्या ?

शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही मैं हूँ, राग मैं नहीं हूँ; इस प्रकार अंतर में भेदज्ञान करके, ज्ञान, राग से पृथक् होकर चैतन्यस्वभाव में एकाग्र हुआ, उसका नाम प्रज्ञा का गुण है, वह मोक्ष का कारण है। प्रज्ञा का गुण, कहने से उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मोक्षमार्ग आ जाता है। हे जीव! तू प्रयत्न द्वारा अपने आत्मा को ऐसे मोक्षमार्ग में स्थापित कर,—ऐसी अचलरूप से स्थापना कर कि बीच में कभी टूट पड़े बिना अल्पकाल में मुक्तदशा प्रगट हो जाये।

यहाँ आत्मा को मोक्षमार्ग में स्थापित करने को कहा, अर्थात् शुद्ध द्रव्यस्वभाव का अवलम्बन लेकर तू अपने आत्मा में मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट कर। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी मोक्षमार्ग, शुद्ध आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है। शुद्ध आत्मा का आश्रय लेकर जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट किये, उसने अपने आत्मा को बंधमार्ग से विमुख करके मोक्षमार्ग में स्थापित किया है। शुद्ध आत्मा के आश्रय से प्रगट हुए निश्चयरत्नत्रय ही नियमरूप से मोक्षमार्ग हैं, उससे भिन्न दूसरा कोई मोक्षमार्ग नहीं है। उसके बदले तो जीव, व्यवहाररत्नत्रय को ही मोक्ष का कारण मानता है, उसने शुद्ध आत्मा को जाना ही नहीं है; इसलिये शुद्ध आत्मा का आश्रय न करके राग का ही आश्रय करके वह जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारत्रिरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को पहिचानकर तू निरन्तर उसी में अपने आत्मा को निश्चितरूप से स्थापित कर।

और मोक्षमार्ग की विशेष प्रेरणा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! समस्त अन्य चिन्ता निरोध द्वारा अत्यन्त एकाग्र होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही ध्या। शुद्धात्म द्रव्य में एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह आत्मा के साथ ही अभेद है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय के साथ अभेदरूप ऐसे शुद्ध आत्मा को ही तू ध्या! उसका ध्यान करने से अन्य समस्त चिन्तायें छूट जाती हैं।—इस प्रकार आचार्यदेव ने अस्ति-नास्ति से मोक्षमार्ग समझाया है।

मोक्षमार्ग, शुद्ध ज्ञानचेतनामय है। शुद्ध ज्ञानचेतना में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समा जाते हैं। शुद्ध ज्ञानचेतनामय होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अनुभव में एकाग्र हुआ, वहाँ पुण्य-पाप या हर्ष-शोक का अनुभव नहीं रहता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! समस्त कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को छोड़कर शुद्ध ज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही तू चेत, उसी का अनुभव कर;—वही मोक्षमार्ग है। शुद्ध द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रतिक्षण रत्नत्रय के निर्मल परिणाम उत्पन्न होते हैं; उस रत्नत्रय में तन्मय होकर तू दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही विहर। इसके सिवा किसी भी परद्रव्य में किंचित भी न विहर। परद्रव्य तेरे ज्ञान के ज्ञेयरूप हैं, परन्तु उन ज्ञेयों के अवलम्बन से तेरा मोक्षमार्ग नहीं है; मात्र ज्ञानस्वरूप के ही अवलंबन से तेरा मोक्षमार्ग है; इसलिये हे भव्य! समस्त परद्रव्यों का अवलंबन छोड़कर अकेले ज्ञायकस्वरूप का ही अवलंबन लेता हुआ तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष पंथ में विहार कर। *[प्रवचन से]*

अरिहंत भगवान को पहिचानो!

[सच्चा जैन बनने के लिये अरिहंत भगवान का स्वरूप अवश्य जानना चाहिए]

[प्रवचनसार गाथा ८० पर पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का सार]

(लेखांक १)

श्री अरिहंत भगवान को नमस्कार हो।

❀

अरिहंत भगवान अपने इष्ट देव हैं, इसलिये उनका स्वरूप यथार्थतया जानना चाहिए।

❀

अरिहंत भगवान का स्वरूप यथार्थतया जानने से आत्मा का सच्चा स्वरूप ज्ञाता होता है; क्योंकि अपने आत्मा का स्वरूप भी वास्तव में अरिहंत भगवान जैसा ही है।

❀

अनादिकाल से आत्मा में जो मिथ्यात्वभाव है, वह अधर्म है। इस आत्मा का स्वभाव अरिहंत भगवान जैसा ही है, पुण्य-पाप रहित है, उसे चूककर पुण्य-पाप को ही अपना स्वरूप मानना, पुण्य-पाप से धर्म मानना, वह मिथ्यात्व है। उस मिथ्यात्व का नाश कैसे होता है? और सम्यक्त्व कैसे प्रगट होता है?—उसका उपाय कहते हैं।—जो जीव अरिहंत भगवान के आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को बराबर जानता है, वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है; उसका मिथ्यात्वरूपी भ्रम अवश्य नष्ट हो जाता है और शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट होता है।—अनादि के अधर्म का नाश करके अपूर्व धर्म प्रगट करने का यह उपाय है।

❀

निश्चय से अरिहंत भगवान का और इस आत्मा का स्वभाव समान है, उस स्वभाव को जानने से सम्यग्दर्शन होता है, वह अपूर्व धर्म है। सम्यग्दर्शन के बिना तीनकाल में धर्म नहीं होता।

❀

जो जीव सच्चे लक्षण की परीक्षा द्वारा अरिहंत भगवान का स्वरूप जानता है, वह जीव स्वरूप के आंगन में आया है; जो जीव, अरिहंत भगवान को नहीं पहिचानता और शरीर की क्रिया से या राग से धर्म मानता है, वह तो स्वभाव के आंगन में भी नहीं आया है।

❀

अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय को जीव नहीं जानता, वही रागादि और शरीरादि की क्रिया को अपना स्वरूप मानता है; किन्तु जो जीव, अरिहंत भगवान जैसे अपने

आत्मा को पहिचानता है, उसे भेदज्ञान हो जाता है; इसलिये वह रागादि को अपना सच्चा स्वरूप नहीं मानता और शरीरादि की क्रिया को अपनी नहीं मानता; रागरहित चैतन्यभावरूप उसका परिणमन हो जाता है।

❀

तीनलोक के नाथ तीर्थंकर भगवान कहते हैं कि—मेरा और तेरा आत्मा एक ही जाति का है, दोनों की एक ही पाँति है। जैसा मेरा स्वभाव है, जैसा ही तेरा स्वभाव है। हमें जो केवलज्ञानदशा प्रगट हुई है, वह बाह्य में नहीं प्रगटी है किन्तु आत्मा में शक्ति है, उसी में से प्रगट हुई है। तेरे आत्मा में भी मुझ जैसी ही परिपूर्ण शक्ति है। हे जीव! अपने आत्मा की शक्ति को पहिचान ले तो तेरा मोह नष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।

❀

जिस प्रकार मोर के अंडे में साढ़े तीन हाथ का रंगबिरंगी मोर होने का स्वभाव भरा है, इसलिये उसमें से मोर होता है; उसी प्रकार आत्मा में आनंदमय केवलज्ञान प्रगट होने की शक्ति है, उसमें से केवलज्ञान विकसित होता है—जो ऐसी अंतर्शक्ति की प्रतीति करे, उसे सम्यग्दर्शन होकर अल्पकाल में केवलज्ञान कला विकसित हो जाती है।

किन्तु

'इस छोटे से अंडे में मोर कैसे हो जाता है।'—ऐसी शंका करके यदि अंडे को ठोककर देखे तो उसका रस सूख जाता है और मोर नहीं होता; उसी प्रकार जो जीव आत्मा के स्वभाव-सामर्थ्य का विश्वास न करे और 'इस समय आत्मा भगवान जैसा कैसे हो सकता है?'—ऐसी स्वभाव में शंका करे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता और न उसका मोह नष्ट होता है और न निर्मल तत्वरुचि का रस होता।

❀

मोर के छोटे अंडे में मोर होने का स्वभाव है, वह स्पर्शन-रसन आदि इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता, परन्तु ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है; उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञा होने का जो स्वभाव है, वह इन्द्रियों द्वारा, मन द्वारा या राग द्वारा भी ज्ञात नहीं होता। किन्त वह इन्द्रियादि का अवलम्बन छोड़कर स्वभावोन्मुख अतीन्द्रिय से ही ज्ञात होता है।

❀

जिस प्रकार दियासलाई के सिरे में अग्नि / उत्पन्न होने का सामर्थ्य है, उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा में केवलज्ञानज्योति प्रगट होने का सामर्थ्य है। जिस प्रकार दियासलाई में अग्नि

प्रगट होने का सामर्थ्य वह आँख से दिखाई नहीं देता किन्तु ज्ञान से ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान होने का स्वभावसामर्थ्य है, वह भी अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है।

❀

अपने ऐसे स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति और अनुभव करे तो सम्यग्दर्शनरूपी प्रथम धर्म हो। ऐसे स्वभावसामर्थ्य की प्रतीति के बिना चाहे जितने शास्त्र पढ़ ले, व्रत-उपवास करे, प्रतिमा ले, पूजा-भक्ति करे या द्रव्यलिंगी मुनि हो जाये—चाहे जितना करे, तथापि वह धर्म नहीं माना जायेगा और न वह करते-करते धर्म होगा।

❀

सम्यग्दर्शन प्रगटाने के लिये यह अलौकिक अधिकार है; यह अधिकार समझकर याद रखने जैसा है, और भीतर जुगाली करके आत्मा में परिणमित करने योग्य है। अपने अन्तर्स्वभाव में एकाग्रता से ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र प्रगट होता है।

❀

जिसने अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा को मन द्वारा जान लिया, वह जीव स्वभाव के आंगन में आया है; किन्तु आंगन में आने के पश्चात् अन्तर में उतरकर स्वभाव का अनुभव करने में अनंत पुरुषार्थ है।

❀

जिस प्रकार बड़े राजा-महाराजा के महल के आंगन में आने पर सीधा राजा के निकट जाने के लिये हिम्मत चाहिए, उसी प्रकार चैतन्य भगवान के आंगन में आने के पश्चात् अन्तरोन्मुख होकर चैतन्यस्वभाव का अनुभव करने में अनंत पुरुषार्थ है। जो जीव वैसा अपूर्व पुरुषार्थ करे, उसी को भगवान आत्मा की भेंट होती है—उसी को सम्यग्दर्शन होता है।

जो जीव, शुभ विकल्प में अटक जाता है, उसे चैतन्यभगवान की भेंट नहीं होती;—किन्तु यहाँ आंगन में अटकने की बात नहीं है। जो जीव आंगन में आया वह अंतर में जाकर अनुभव करता ही है—ऐसी अप्रतिहतपने की यहाँ बात है।

❀

सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता, इसलिये यहाँ सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन की रीति में पुण्य या पाप नहीं है। उपयोग को अन्तर्मुख करके त्रिकाली चैतन्यद्रव्य में एकाग्र करना ही सम्यग्दर्शन की रीति है।

❀

देखो भाई! यही आत्मा के हित की बात है। ऐसी समझ पूर्व अनन्तकाल में एक क्षणमात्र

भी नहीं की है। जो एक क्षण भी ऐसी समझ करे, उसे भव का नाश हुए बिना नहीं रहता।

❀

आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझे बिना, भले ही लाखों-करोड़ों की संपत्ति जोड़ ले, तथापि उसके आत्मा को क्या लाभ ? आत्मा का लक्ष किए बिना आत्मा के अनुभव की अमूल्य घड़ी का लाभ नहीं मिलेगा।

❀

जिसने आत्मा का यथार्थ निर्णय किया, फिर भले ही उसे आहार-विहारादि हों और पुण्य-पाप के अमुक परिणाम भी होते हों, तथापि आत्मा का लक्ष नहीं छूटता—आत्मा का जो निर्णय किया है, वह किसी भी प्रसंग पर नहीं हटता। प्रथम ऐसा निर्णय करना ही करने योग्य है।

❀

स्वयं सत्य को समझे, वहाँ मिथ्या मान्यता अपने आप दूर हो जाती है। जिसने आत्मस्वभाव को जाना, उसकी मिथ्या मान्यता दूर हो ही गई। सत्य समझे और विपरीत-मिथ्या मान्यता भी रहे—ऐसा नहीं हो सकता।

❀

'हे जीव! तू अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा को जान'—ऐसा कहा, उसमें इतना तो आ गया कि पात्र जीव को अरिहंतदेव के अतिरिक्त सर्व कुदेवादि की मान्यता छूटी ही गई है।

—अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानकर वहीं नहीं रुकता, किन्तु अपने आत्मा की ओर ढलता है।—मेरा स्वरूप द्रव्य-गुण और पर्याय से परिपूर्ण है, राग-द्वेष मेरा सच्चा स्वरूप नहीं है—ऐसा निर्णय करके, पश्चात् पर्याय का लक्ष छोड़कर और गुणभेद का लक्ष भी छोड़कर चिन्मात्र आत्मा को लक्ष में लेता है।

—इस प्रकार अकेले चिन्मात्र आत्मा का अनुभव करते ही सम्यग्दर्शन होता है और मोह नष्ट हो जाता है।

❀

भगवान के दर्शन और भगवान का साक्षात्कार कैसे होता है, उसकी यह बात है। भगवान कैसे हैं, वह जाने और मैं भी वैसा भगवान हूँ—"जिन सो ही आत्मा"—ऐसा जानकर उसी में लक्ष को एकाग्र करने से निर्विकल्प आनन्द का अनुभव होता है, वही भगवान के दर्शन हैं, वही आत्मसाक्षात्कार है। "अप्पा सो परमप्पा"—इसलिये आत्मा का दर्शन ही परमात्मा का दर्शन है, वही स्वानुभव है, वही बोधिसमाधि है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। इसके अतिरिक्त

भगवान के और अपने आत्मा में जो परमार्थ से किंचित् भी फेरफार मानता है, उसे भगवान की भेंट— भगवान का साक्षात्कार या भगवान के दर्शन नहीं होते।

❀

आत्मा को पहिचानकर उसका सम्यग्दर्शन करना, वह इस मनुष्य-जीवन की सफलता है। आत्मा की पहिचान के संस्कारसहित जहाँ जावेगा, वहाँ आत्मा की साधना चालू रखकर अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करेगा। किंतु यदि जीवन में आत्मा की पहिचान के संस्कार नहीं डाले तो डोरारहित सुई की भाँति आत्मा भवभ्रमण में कहीं खो जायेगा। जिस प्रकार डोर पिरोई हुई सुई नहीं खो जाती, उसी प्रकार यदि आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरो ले तो आत्मा चौरासी के अवतार में न भटके।

❀

यह सम्यग्दर्शन के लिये अपूर्व बात है। जिस प्रकार व्यापार-धन्धे में या भोजनादि में ध्यान रखता है, उसी प्रकार यहाँ आत्मा की रुचि कर के बराबर ध्यान रखना चाहिए; अंतर में मिलावट करके समझना चाहिए। पवित्र मांगलिक रूप से यह अपूर्व बात है। ''यह कुछ अपूर्व है, समझने जैसा है''—इस प्रकार उत्साह लाकर ६० मिनिट बराबर ध्यान रखकर सुने तो भी दूसरों की अपेक्षा भिन्न प्रकार से पुण्य हो जायें; और आत्मा के लक्ष से अंतर में समझकर इस भावरूप परिणमित हो जाये, उसे तो अनंतकाल में अप्राप्त ऐसे सम्यग्दर्शन का अपूर्व लाभ हो। यह बात सुनना भी महँगी है और इसका समझना भी अभूतपूर्व है।

❀

सम्यग्दर्शन की अंतर्क्रिया ही धर्म की पहली क्रिया है। सम्यग्दर्शन स्वयं श्रद्धागुण की पवित्र क्रिया है और उस में मिथ्यात्वादिक अधर्म की क्रिया का अभाव है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के निर्मलभावरूप जो पर्याय परिणमित होती है, वही धर्मक्रिया है; वह क्रिया रागरहित है; राग हो, वह धर्म की क्रिया नहीं है। धर्मी जानता है कि मेरे स्वभाव के अनुभव में ज्ञान-दर्शन-आनन्द की निर्मल क्रिया होती है, उसी में मैं हूँ, किन्तु राग की क्रिया में मैं नहीं हूँ।

❀

द्रव्य-गुण-पर्याय को जानने के पश्चात् अन्तर के अभेद चैतन्यमात्र स्वभाव का अनुभव करने में भिन्न ही प्रकार का पुरुषार्थ है; उस अंतरक्रिया में स्वभाव का अपूर्व पुरुषार्थ है। अनादि के भवसागर का अन्त ऐसे अपूर्व पुरुषार्थ से ही होता है। यदि स्वभाव के अपूर्व पुरुषार्थ बिना भवसागर से पार हो सकते हों, तब तो समस्त जीव मोक्ष में पहुँच जाते! किन्तु स्वभाव के अपूर्व

प्रयत्न के बिना यह बात कभी समझ में नहीं आ सकती, और इसे समझे बिना कभी किसी जीव के भवभ्रमण का अंत नहीं आता। इसलिये अंतर की रुचि और धैर्यपूर्वक स्वभाव को समझने का सतत उद्यम करना चाहिए।

❀

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव सम्यग्दर्शन का अपूर्व उपाय बतलाते हुए भव्य जीव से कहते हैं कि हे भव्य! तू अरिहंत भगवान के शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचान... उसे पहिचानने से तुझे अपने आत्मा की खबर पड़ेगी कि—"मैं भी अरिहंत की ही जाति का हूँ; अरिहंत भगवन्तों की पंक्ति में बैठूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है।" इस प्रकार आत्मस्वभाव को पहिचानकर उस में एकाग्र होने से अपूर्व सम्यग्दर्शन होगा।

❀

सबसे पहले क्या करना—उसकी यह बात है। अनादि के अज्ञानी जीव को छोटे से छोटा जैनधर्मी बनाने की अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि होने की यह बात है। मुनि या श्रावक होने से पूर्व कैसी श्रद्धा होना चाहिए, उसकी यह बात है। इस सम्यक्श्रद्धारूपी भूमिका के बिना व्रत-प्रतिमा या मुनित्व कुछ भी सच्चा नहीं होता। अभी वस्तुस्वरूप क्या है, उसे समझे बिना जल्दी-जल्दी बाह्य त्याग करने लगे और अपने को मुनित्व आदि मान ले, उसे तो धर्म की रीति या धर्म के क्रम की खबर नहीं है।

❀

जिसने अन्तर में अपने आत्मस्वभाव का भान किया है, उसे वह भान सदैव वर्तता ही रहता है। आत्मा के विचार में हो, तभी सम्यग्दर्शन रहता है और दूसरे विचार में हो, तब सम्यग्दर्शन चला जाता है—ऐसा नहीं है। सम्यक्त्वी को शुभाशुभ उपयोग के समय भी आत्मभान का विस्मरण नहीं होता, सम्यग्दर्शन नहीं छूटता और न दूषित होता है; प्रतिक्षण उसके सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान वर्तते ही रहते हैं—आत्मा ही उसरूप परिणमित हो गया है। आत्मा का भान होने के पश्चात् उसे गोखना नहीं पड़ता—याद नहीं रखना पड़ता, परंतु आत्मा में उसका सहज परिणमन हो जाता है; नींद में भी आत्मभान का विस्मरण नहीं होता। इसप्रकार धर्मी को चौबीसों घन्टे सम्यग्दर्शनरूपी धर्म होता ही रहता है। ऐसा आत्मभान प्रगट करना ही जीवन में सबसे प्रथम कर्तव्य है।

❀

यह तो आत्मा की मुक्ति प्राप्त हो—ऐसी बात है; इसे समझने के लिये अन्तर में रुचि और उत्साह होना चाहिए। पैसे में सुख नहीं है, तथापि पैसा मिलने की बात कितनी रुचिपूर्वक सुनता

है! तब फिर आत्मा समझने के लिये अपूर्व रुचिपूर्वक-आत्मा की रुचिपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। सत्समागम से परिचय किये बिना जल्दी से यह बात समझमें नहीं आ सकती। ''यही मुझे करने योग्य है''—इस प्रकार धैर्य धारण करके यह बात पकड़ने जैसी है।

❀

अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय पुरुषार्थ द्वारा होता है; और उसका निर्णय करने से आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहिचान होकर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और मोह का क्षय होता है। इसीलिये हे जीवो! पुरुषार्थ द्वारा अरिहन्त भगवान को पहिचानो।

❀

जिस जीव ने अरिहन्त भगवान के परिपूर्ण सामर्थ्य को अपने ज्ञान में लिया, उसने अपने आत्मा में भी वैसे परिपूर्ण सामर्थ्य का स्वीकार किया और उससे कर्म का या विकार का निषेध किया।

❀

अरिहन्त भगवान में और इस आत्मा में निश्चय से कोई अंतर नहीं है; इसलिये जिसने अरिहन्त के आत्मा का वास्तविक स्वरूप जाना, उसे ऐसा लगता है कि अहो! 'मेरे आत्मा का वास्तविक स्वरूप भी ऐसा ही है, इसके अतिरिक्त अन्य विपरीत भाव मेरा स्वरूप नहीं है।' ऐसा जानकर अपने आत्मा की ओर ढलने से उस जीव के मोह का नाश हो जाता है।

❀

अरिहन्त भगवान को वास्तव में कब जाना कहा जाता है?—अरिहन्त भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ अपने आत्मा को मिलाकर, जैसा अरिहन्त का स्वभाव है, वैसा ही मेरा स्वभाव है—ऐसा निर्णय करे, तभी अरिहन्त भगवान को वास्तव में जाना कहा जाता है और इसप्रकार अरिहन्त भगवान को जाने उसे सम्यग्दर्शन हुए बिना न रहे।

❀

जिससे अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष में लिया, उस ज्ञान में ऐसा सामर्थ्य है कि अपने आत्मा में से विकार का और अपूर्णता का निषेध करके परिपूर्ण स्वभावसामर्थ्य का स्वीकार करता है और मोह का क्षय करता है।

❀

जो जीव, अरिहंत भगवान के आत्मा को बराबर जानता है, वह जीव अपने चैतन्य सामर्थ्य के सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है,—इसलिये अरिहंत भगवान को जाननेवाला अरिहंत का लघुनन्दन होता है।

❀

धर्मी जीव ने अपने हृदय में अरिहंत भगवान की स्थापना की है; उसके अन्तर में केवलज्ञान की महिमा अंकित हो गई है; और ऐसा परम महिमावन्त केवलज्ञान प्रगट होने का सामर्थ्य मेरे आत्मा में भरा है—ऐसी उसे स्वसन्मुख प्रतीति है।

❀

केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय करने का सामर्थ्य शुभविकल्प में नहीं है, किन्तु आत्माश्रित ज्ञान में ही वह सामर्थ्य है। केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय करनेवाला ज्ञान, अपने स्वभावसन्मुख हो जाता है।

❀

जो जीव, अरिहंत भगवान के केवलज्ञान का निर्णय करे, वह जीव, राग को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता अर्थात् राग से धर्म होना नहीं मानता; क्योंकि केवलज्ञानी को राग नहीं है, और जैसा केकवलज्ञानी का स्वरूप है, वैसा ही अपना परमार्थ स्वरूप है।

❀

जो जीव मात्र अपनी कुल परम्परा से ही अरिहंतदेव को महान मानते हैं, किन्तु अरिहंत भगवान के जीव का स्वरूप क्या है, वह नहीं जानते उनका मिथ्यात्व दूर नहीं होता और धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये अरिहंत भगवान के आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है?-वह जानना चाहिए। अरिहंत भगवान के आत्मा का वास्तविक स्वरूप पहिचाने, वह मिथ्यादृष्टि रहता ही नहीं।

❀

जिसे मोह का क्षय करना हो, उसे क्या करना चाहिए?—कि अरिहंत भगवान का आत्मा कैसा है, उनके गुणों का सामर्थ्य कैसा है और उनकी केवलज्ञानादि पर्याय का क्या स्वरूप है—वह निश्चित करना चाहिए; उसका निर्णय करने से अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप भी वैसा ही परिपूर्ण है—ऐसी सम्यक्प्रतीति होती है और मोह का नाश हो जाता है।

❀

यहाँ अरिहंत भगवान इस आत्मा के ध्येयरूप-आदर्शरूप हैं। जिस प्रकार दर्पण में देखने से अपनी मुखाकृति दिखाई देती है; उसी प्रकार अरिहंत इस आत्मा के दर्पण समान है; अरिहंत भगवान का स्वरूप पहिचानने से आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप कैसा है, वह पहिचाना जाता है। अरिहंत भगवान को जो केवलज्ञानादि प्रगट हुए हैं-उनके प्रगट होने का मेरे आत्मा में सामर्थ्य है, और जो सर्व प्रकार के रागादि भाव, अरिहंत भगवान के आत्मा में से दूर हो गये हैं, वह आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है और कभी भी राग हितकारी नहीं है; इस प्रकार अरिहंत भगवान को

पहिचानने से अपने स्वभाव सामर्थ्य की प्रतीति होती है और विकारी भावों से भेदज्ञान होता है।

❀

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! हमें तुझे तेरा शुद्ध स्वरूप बतलाना है; विकार या अपूर्णता, वह तेरा सच्चा स्वरूप नहीं हैं; तेरा सच्चा स्वरूप तो विकाररहित शुद्ध परिपूर्ण है—वह हमें दर्शाना है। और इस शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रतिबिम्ब समान श्री अरिहंत भगवान हैं क्योंकि वे सर्वप्रकार से शुद्ध हैं।—इसलिये हे भाई— तू अरिहंत भगवान के आत्मा को पहिचान, और अपने आत्मा को भी वैसा ही जान।

❀

इस आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय तो सदैव शुद्ध हैं और पर्याय नई प्रगट करना है। पर्याय की शुद्धता प्रगट करने के लिये द्रव्य-गुण और पर्याय की शुद्धता का स्वरूप कैसा है, वह जानना चाहिए। अरिहंत भगवान का आत्मा द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों प्रकार से शुद्ध है, इसलिये उनके स्वरूप को जानने से अपने शुद्धस्वभाव की प्रतीति होती है और उसी के अवलम्बन से पर्याय में शुद्धता होने लगती है।

❀

अरिहंत भगवान का आत्मा परिस्पष्ट है, सर्वप्रकार से निर्मल है, उन्हें पहिचानने से ऐसा लगता है कि—अहो! यह तो मेरे शुद्ध स्वभाव का ही प्रतिबिम्ब है, मेरा स्वरूप ऐसा ही है।—इस प्रकार यथार्थतया आत्मस्वभाव का भान होने से शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट होता है।

❀

अरिहंत भगवान को राग का अत्यंत अभाव होकर परिपूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो गया है। उस केवलज्ञान में जो ज्ञात हुआ है, वह मिथ्या नहीं होता;—ऐसा निर्णय करने में भगवान के केवलज्ञान की प्रतीति आ जाती है, और केवलज्ञान की प्रतीति करने से अपना परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भी प्रतीति में आ जाता है और सम्यग्दर्शन होता है। इस प्रकार केवलज्ञान का यथार्थ निर्णय, वह सम्यग्दर्शन का कारण होता है।

अरिहंत भगवान के निर्णय में केवलज्ञान का निर्णय आया, केवलज्ञान के निर्णय में आत्मा के ज्ञानस्वभाव का निर्णय आया और ज्ञानस्वभाव के निर्णय में केवलज्ञान-स्वभावसन्मुख का अनंतपुरुषार्थ आया।

❀

सर्वज्ञ परमात्मा अरिहंत भगवान को जो जीव नहीं पहिचानता, वह केवलज्ञान को नहीं पहिचानता; और जो केवलज्ञान को नहीं पहिचानता, वह आत्मा के केवलज्ञान स्वभाव को भी नहीं पहिचानता; ज्ञानस्वभाव की पहिचान के बिना उसे कभी धर्म नहीं होता। इसलिये जिसे धर्म करना हो, उसे प्रथम अरिहंत भगवान के स्वरूप को बराबर पहिचानना चाहिए।

❀

अरिहंत भगवान का और मेरा आत्मा निश्चय से समान ही है—ऐसा जो जीव जान ले, उसे ऐसी नि:शंकता हो जाती है कि जिस प्रकार अरिहंत भगवान अपने पुरुषार्थ द्वारा मोह का क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त हुए, उसी प्रकार मैं भी अपने पुरुषार्थ के बल से मोह का क्षय करके पूर्णदशा प्राप्त करनेवाला हूँ। मोह की सेना पर विजय पाने का उपाय मैंने प्राप्त किया है।

❀

समस्त आत्मा अरिहंत जैसे ही हैं; अरिहंत जैसे अपने स्वरूप को जो समझना चाहे, वह समझ सकता है। अंतर के स्वभाव की रुचि और महिमा आये बिना जीव उसकी प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करता। जो अरिहंत जैसा अपना स्वरूप प्राप्त करना चाहे, वह अवश्य ही कर सकता है। उस स्वरूप प्राप्ति के लिए अन्तर्मुख दशा का अपूर्व प्रयत्न होना चाहिए।

❀

हे जीव! तुझे अपना भला करना है न?.... तो तू इस बात की खोजकर लेना कि जगत में सबसे अच्छा किसने किया है?—पूर्ण हित किसने प्रगट किया है?.....

अरिहंत भगवंत इस जगत में संपूर्ण सुखी हैं, उन्होंने आत्मा का संपूर्ण भला किया है। अरिहंत भगवान ने किस प्रकार आत्मा का भला किया है?.....

पहले अपने आत्मस्वभाव को परिपूर्ण जानकर उस स्वभाव के आश्रय द्वारा मोह का क्षय किया,—इस प्रकार अरिहंत भगवंतों ने आत्मा का भला किया। जैसे अपने आत्मस्वभाव को जाना और फिर उसमें लीन होकर मोह का क्षय करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किये, इसलिये वे अरिहंत भगवान सुखी हैं।

उनके आत्मा की वह केवलज्ञानदशा कहाँ से आई? त्रिकाली द्रव्य-गुण का जो स्वभावसामर्थ्य है, उसमें से ही वह दशा प्रगट हुई है।

हे जीव! तेरे द्रव्य-गुण में भी अरिहंत भगवान जैसा ही स्वभाव सामर्थ्य है; उस स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें तू स्थिरता कर, तो तुझे अपने द्रव्य-गुण में से केवलज्ञान और पूर्ण

सुखमय दशा प्रगट होगी।—यही आत्मा का भला करने का उपाय है। दुनिया में अपना अच्छे से अच्छा करनेवाले भगवान अरिहंत, उन्हीं को तू अपने आदर्शरूप रख।

❀

अहो! जिनके मोह नहीं है, अवतार नहीं है, मरण नहीं है, विकल्प नहीं है, पर की उपाधि नहीं है, भूख-प्यास नहीं है, रोग नहीं है, राग नहीं है, हर्ष नहीं है, शोक नहीं है; जिनके दिव्य केवलज्ञान और संपूर्ण अतीन्द्रिय सुख प्रगट हो गया है तथा जो कृतकृत्य है—ऐसे अरिहंत भगवान ही आत्मा के दर्पण समान हैं, वे ही सच्चे आदर्शरूप हैं। उन अरिहंत भगवान के स्वरूप को जानने से अपने स्वरूप का प्रतिबिंब ज्ञात होता है।—इस प्रकार अरिहंत भगवान जैसे अपने आत्मा को जानकर उसका ध्यान करते रहने से जीव स्वयं भी मोहरूपी अरि को नष्ट करके अरिहंत हो जाता है।—यह अरिहंत होने का उपाय है! अनंत तीर्थंकरों ने यही उपाय किया है। और दिव्यध्वनि में भी ऐसा ही उपदेश किया है। ●●

निश्चय से जैसा सर्वज्ञ भगवान का स्वभाव है वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है; इसलिये सर्वज्ञ को पहिचानने से अपने आत्मा की पहिचान होती है; जो जीव सर्वज्ञ को न पहचाने वह अपने आत्मा को भी नहीं पहिचानता।

❀ समस्त पदार्थों को जाननेरूप सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है किन्तु पर में कुछ फेरफार करे ऐसी शक्ति आत्मा में कभी नहीं है।

❀ अहो! समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति इस आत्मा में सदैव भरी है; उसकी प्रतीति करनेवाला जीव धर्मी जीव मानता है कि मैं अपनी ज्ञानक्रिया का स्वामी हूँ, किन्तु पर की क्रिया का स्वामी मैं नहीं हूँ।

❀ आत्मा में सर्वज्ञशक्ति है, उस शक्ति का विकास होने से अपने में सर्वज्ञत्व प्रगट होता है, किन्तु आत्मा की शक्ति का विकास होने से वह पर का कुछ कर दे—ऐसा नहीं हो सकता।

मोक्षमार्गी मुनिवरों को किसकी शरण ?

अहो ! अंतर में चैतन्यस्वभाव की महा शरण है, उसे तो अज्ञानी जीव पहिचानते नहीं हैं और पुण्य में ही मूर्च्छित हो गये हैं। पूर्वकाल में अनंतबार पुण्य किये किन्तु वे जीव को शरणभूत नहीं हुए, उनसे किंचित् भी मोक्षमार्ग का हित नहीं हुआ। हे भाई ! अब तुझे अपने आत्मा का मोक्ष करना हो, संसार की चार गतियों के परिभ्रमण से छूटना हो तो अंतर में ज्ञान की शरण ले।

''अहो ! हमें अपने स्वभाव की ही शरण हैं; पुण्य का विकल्प उठे, उसे भी हम शरणरूप नहीं मानते; उस विकल्प को भी तोड़कर ज्ञान को अंतर में एकाग्र करने से आत्मा के परमानन्द का अनुभव होता है;—वही हमें शरण है, और दूसरे जीवों को भी वही शरण है।'' देखो, यह संत-मुनियों के अन्तर-अनुभव से उठनेवाली झन्कार ! प्रतिक्षण निर्विकल्प आनन्द के अनुभव में झूलते-झूलते बीच में यह वाणी निकल गई है।

आत्मा के ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता से प्रगट हुए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव ही मोक्ष का सच्चा कारण है; उसके सिवा जितने शुभ या अशुभरागभाव हैं, वे सब बंधन के ही कारण हैं। जिस प्रकार पापभाव बंधन का कारण है, उसी प्रकार पुण्यभाव भी बंधन का कारण है; इसलिये मोक्षमार्ग में शुभ या अशुभ समस्त कर्मों का निषेध है—ऐसा भगवान सर्वज्ञदेव का आदेश है।

शुभ या अशुभ समस्त कर्म, जीव को बंध के ही कारण हैं; इसलिये वे निषेध करने योग्य हैं—ऐसा आचार्यदेव ने सिद्ध किया है। वहाँ जो जीव मात्र पुण्य-पाप को ही जानता है, किन्तु पुण्य-पाप से रहित ज्ञानपरिणमन को नहीं जानता, उसे ऐसा प्रश्न उठता है कि—जब मोक्षमार्ग में पुण्य और पाप दोनों का निषेध कर दिया, तब फिर मुनियों को किसकी शरण रहीं ? पुण्य-पाप दोनों छूट जाने पर किस के आधार से मुनिपना और मोक्षमार्ग रहेगा ?

उसके उत्तर में आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे भाई ! पाप और पुण्य समस्त कर्म छूट जाने से मुनिवर कहीं अशरण नहीं हो जाते; किन्तु उस समय ज्ञानस्वभाव में रमण करता हुआ वीतरागी ज्ञान ही उन्हें शरणभूत है; वे उस ज्ञान में लीन होकर आत्मा के परमामृत का अनुभव करते हैं। यह बात निम्नोक्त कलश में कहते हैं :—

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्तै नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
स्वयं विंदंत्येते परममृतं तत्र निरता॥१०४॥

(- समयसार, पुण्य-पाप अधिकार)

मोक्षमार्ग में शुभ या अशुभ आचरणरूप समस्त कर्मों का निषेध किया गया है; परन्तु वह शुभाशुभ कर्मरहित निष्कर्म अवस्था प्रवर्तित होने से मुनि कहीं अशरण नहीं है। पुण्य-पाप रहित निर्विकल्पदशा के समय ज्ञानस्वभाव में ही एकाग्र होकर परिणमित होनेवाला ज्ञान ही उन मुनिवरों को परम शरण है; ज्ञान में लीन होकर वे परमामृत का अनुभव करते हैं। पुण्य-पाप में तो आकुलता है, उसमें आनन्द का अनुभव नहीं है; पुण्य-पाप रहित निर्विकल्पदशा में ज्ञानस्वभाव में एकाकार होकर परिणमित होने से सिद्धभगवान जैसे अपूर्व आनंद का अनुभव होता है, उसे परम अमृत की उपमा दी है।

अज्ञानी जीवों को पुण्य की ही शरण भासित होती है, किन्तु अंतर में ज्ञानस्वभाव शरणभूत है, उसकी उन्हें खबर नहीं है। पुण्य ही मुझे शरणभूत है, पुण्य छूटने से मानो मुझमें कुछ भी नहीं रहेगा—ऐसा अज्ञानियों के लगता है, इसलिये पुण्य के निषेध की बात सुनते वे भड़क उठते हैं कि अरे! पुण्य छोड़ देंगे तो हम में क्या रहेगा? ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! पुण्य-पाप छूट जायेंगे तो फिर ज्ञान-आनंद से परिपूर्ण आत्मा रहेगा। पहले तुम ऐसी श्रद्धा-ज्ञान तो करो कि हमारा चैतन्यस्वभाव, पुण्य-पाप के बिना भी टिक सकता है। पुण्य-पाप के आधार से ज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वभाव के आधार से ही ज्ञान है; इसलिये पुण्य-पाप से पृथक् होने पर वह ज्ञान अशरण नहीं हो जाता किन्तु पुण्य-पाप रहित हुआ वह ज्ञान निज स्वभाव में गंभीरता पूर्वक लीन होकर परम अमृत का अनुभव करता है। इसलिये मोक्षमार्गी मुनिवरों को ऐसा वीतरागी ज्ञान ही शरणरूप है।

यहाँ उग्र बात बतलाने के लिये मुनियों की बात की है; क्योंकि मुनि परम निष्कर्मदशा को प्राप्त हैं; मुनियों की भाँति चौथे गुणस्थानवाले सम्यक्त्वी की बात भी समझ लेना चाहिए। उन्हें भी किसी पुण्य-पाप की शरण नहीं है किन्तु अन्तर में अपने स्वभाव के अवलम्बन से परिणमित होनेवाला ज्ञान ही शरण है। मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन से लेकर केवलज्ञान तक अपने ज्ञानस्वभाव का अवलंबन—यह एक ही शरण है। बीच में कहीं पुण्य की शरण नहीं है। भले ही पहले निचली

भूमिका में पुण्य-पाप के भावों से सर्वथा न छूटे, किन्तु वे भाव होने पर भी ऐसी दृष्टि प्रगट करना चाहिये कि मुझे शरणभूत तो मेरा ज्ञानस्वभाव ही है; ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से ही मेरा मोक्षमार्ग है—इन पुण्य-पाप के अवलम्बन से मेरा मोक्षमार्ग नहीं है। जब तक ऐसी अन्तरदृष्टि प्रगट करके चैतन्यस्वभाव का अवलंबन न ले, तब तक जीव को मोक्षमार्ग का प्रारम्भ किसी प्रकार नहीं होता, यानी लेशमात्र भी धर्म नहीं होता।

अहो! अन्तर में चैतन्यस्वभाव की महा शरण है; उसे तो जीव पहिचानते नहीं हैं और पुण्य में मूर्छित हो गये हैं। पूर्वकाल में अनंत बार पुण्य किये, किन्तु वे जीव को कारणभूत नहीं हुए,—पुण्य से किंचित भी मोक्षमार्ग या हित नहीं हुआ। हे भाई! अब तुझे अपने आत्मा का मोक्ष करना हो, संसार की चार गतियों के परिभ्रमण से छूटना हो तो अन्तर में ज्ञान की शरण ले। अन्तर्मुख एकाग्र होकर परिणमित होनेवाला ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। अन्तरस्वभाव में एकाग्र होने से आत्मा के परमानंद का जो उपभोग होता है, उसके स्वाद को ज्ञानी से ही जानते हैं; अज्ञानी उस ज्ञान के आनंद का स्वाद नहीं जानता।

अहो! देखो तो, इन संत-मुनियों के अन्तर-अनुभव से उठनेवाली झन्कार! प्रतिक्षण निर्विकल्प आनंद के अनुभव में झूलते-झूलते बीच में यह वाणी निकल गई है। उसमें आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! हमें अपने स्वभाव की ही शरण है; पुण्य का विकल्प उठे, उसे भी हम शरणरूप नहीं मानते; उस विकल्प को भी तोड़कर ज्ञान को अंतर में एकाग्र करने से आत्मा के परम आनंद का अनुभव होता है, वही हमें शरण है। दूसरे सम्यक्त्वी जीवों को भी यही शरण है। ज्ञानमात्र भाव के अतिरिक्त जितने परभाव हैं, वे सब बंध के कारण हैं; तो फिर वे जीव को कैसे शरणरूप हो सकते हैं? किसी भी जीव को अपने ज्ञानानन्दस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी की शरण नहीं है; अन्य किसी के अवलम्बन से कभी मोक्षमार्ग नहीं होता। भगवान आत्मा के मोक्षरूपी महल पर चढ़ने की नसैनी कौनसी है?—तो कहते हैं कि आत्मस्वभाव के अवलम्बन से जो सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान और रमणतारूपी वीतरागी दशा प्रगट हुई, वही मोक्ष की सीढ़ी है; इसके सिवा पुण्य कहीं मोक्ष की सीढ़ी नहीं है। पुण्य, वह धर्म की सीढ़ी नहीं है, पुण्य करते-करते किसी समय उससे मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाये—ऐसा कभी नहीं होता। पुण्य स्वयं बंध का कारण है, वह कभी भी मोक्ष का साधन नहीं होता।

अंतर में अपने स्वभाव में लीन होकर ज्ञान परिणमित हो, वही मोक्ष का कारण है।

सम्यग्दर्शन की रीति भी यही है, सम्यग्ज्ञान की रीति भी यही है, और सम्यक्चारित्र की रीति भी यही है। जो ज्ञान बाह्योन्मुख होकर पुण्य-पाप में एकाग्रतारूप से परिणमित हो, वह मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है; तथा जो ज्ञान अंतरोन्मुख होकर चिदानन्दस्वभाव में एकाग्र होकर परिणमित हो, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कारण है, और वही मुनियों को शरणभूत है। किन्हीं बाह्य निमित्तों के या पंच महाव्रतादि के शुभराग के कारण मुनिदशा नहीं टिकती, किन्तु अंतर में पुण्य-पाप रहित होकर जो ज्ञान, चैतन्यस्वभाव में लीन हुआ, उसी के आधार से मुनिदशा टिकती है, इसलिये वही ज्ञान मुनियों को शरण है। अहो! जो ज्ञान मेरे ज्ञानस्वभाव में एकाग्र होकर परिणमित हो, वही मुझे शरणरूप है; इसके अतिरिक्त कोई परवस्तु या पुण्य भी वास्तव में मुझे शरणरूप नहीं है;—ऐसा जानकर चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से परिणमित होना ही मोक्ष का पंथ है।

[संवत् कार्तिक कृष्णा ४ के दिन परम पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		

आत्मधर्म फाइलें
१-२-३-५-६-७ वर्ष — प्रत्येक का ३॥)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।